मेरा पथ, मेरी श्रीगुरु

ईशा सरदेसाई द्वारा लिखित

मुझे याद है, मैं दसवीं कक्षा में पढ़ रही थी और रसायनशास्त्र की एक क्लास में मैंने एक शब्द के बारे में जाना। वह शब्द था, entropy [ऍन्ट्रॉपी] जो कि एक माप है जो अनिश्चितता या यादृच्छिकता के सिद्धान्त को दर्शाता है। मैंने सोचा, आख़िरकार मुझे वह शब्द मिल ही गया जो उस भावना का वर्णन करता है जिसके विषय में हम सबको [या कम से कम मुझे, एक ऐसी किशोरी को, जिसकी इस जगत के बारे में और खुद अपने बारे में धारणाएँ तेज़ी-से विकसित हो रही थीं और बदल रही थीं] सतत एक अनजानी-सी घबराहट महसूस होती रहती है, जिसे हम सख़्ती से व हठपूर्वक टालते रहते हैं। वह भावना एक भय है, ऐसा पूर्वानुमान है कि इस दुनिया में आख़िर सब कुछ यादृच्छिक यानी अप्रत्याशित, अनिश्चित या दैवयोग ही है; इसमें कोई नियम नहीं, यहाँ तक कि इसमें कोई सुव्यवस्था नहीं है और यह अर्थहीन तथा अव्यवस्थित है।

यह ऐसी सच्चाई नहीं थी जिसे मैं स्वीकार करना चाहती थी, पर मुझे तसल्ली हुई कि इस भावना को नाम देने के लिए मुझे एक शब्द मिल गया है। मुझमें वह जज़्बा था, वह सकारात्मकता थी जो कि युवावस्था के लोगों में होती है : अस्पष्ट ही सही पर मुझमें एक सदाशयी उद्देश्यपूर्णता थी, नेक उमंग थी कि मैं दुनिया की और जीवन की उन सब चीज़ों में बदलाव लाऊँ, उन्हें दुरुस्त करूँ व उनमें एक सुधार लाऊँ जो चीज़ें मुझे ग़लत या अनुचित लगती हैं या वे चीज़ें जो बस मेरी समझ के बाहर हैं। मुझे यक़ीन था कि जीवन की इस भासने वाली विचित्रता के पीछे कोई यथोचित कारण, कोई हेतु तो ज़रूर होगा—और *होना ही* चाहिए। यह स्वीकार करना कि इस दुनिया में सब कुछ यादृच्छिक या अप्रत्याशित है, मेरे मन को बेचैन कर देता और इस बेचैनी से ही मेरे यक़ीन को कुछ हद तक ठोस आधार मिला, इसी बेचैनी के कारण मुझे प्रेरणा मिली कि मैं दुनिया के अप्रत्याशित स्वरूप के पीछे का कारण ढूँढू। क्योंकि यदि यादृच्छिकता यानी अनिश्चितता इस जगत का लक्षण ही है, तो इसमें मेरा स्थान वास्तव में क्या होता? किसी का भी स्थान क्या होता? मेरे जीवन से कौन-सा उद्देश्य पूर्ण होता? मैं ऐसा क्या करती जो सार्थक होता, जिसका कोई महत्त्व होता?

उसके बाद के वर्षों में, मैं अधिक समर्पण व निष्ठा से श्रीगुरुमाई की सिखावनियों का अध्ययन करने लगी, और मेरी समझ में आने लगा कि यादृच्छिकता या अस्तव्यस्तता न सही, पर अस्थिरता, चंचलता इस संसार का व इस जगत में जीवन का स्वरूप है। इस संसार और इस जीवन में उतार-चढ़ाव, दोनों हैं। हमने कल्पना भी न की हो ऐसे बड़े ही ख़ास आनन्द के क्षण जीवन में आते हैं, और वह ऐसा होता है मानो किसी ने आपकी त्वचा के नीचे प्रकाशपुंज प्रज्वलित कर दिए हों और उनकी दीप्ति से आपकी सत्ता का हर एक भाग, हर छिपी हुई परत और गहराई में धँसा हुआ हर कोना एक

सुखद एहसास से जगमगा उठता है। दूसरी ओर, जीवन में अप्रत्याशित दुःख-कष्ट होते हैं, ऐसे क्षण जो आपको विनम्र बना देते हैं, ऐसी व्यथा जिसका कोई नाम नहीं पर जो होती है इतनी बड़ी, भारी व क्लेशदायक कि आप उन्हें अपने अन्दर समाना चाहें तो भी आपके अन्दर की जगह उसके लिए कम पड़ जाती है।

मैंने गुरुमाई जी से 'अक्रम-क्रम' का सिद्धान्त सीखा जो कि मूलतः काश्मीर शैवदर्शन से है। संस्कृत में 'अक्रम-क्रम' का अर्थ है 'अनुक्रमिक न होना-क्रमिक होना'। यह सृष्टि के उन रूपाकारों को दर्शाता है जो एक ही समय पर एक-साथ अस्तित्व में हैं और जिनके आधार पर हम अपना जीवन मापते व जीते हैं [यह है क्रम या क्रमानुसार] और अक्रम से तात्पर्य है, वह बृहत ब्रह्माण्डीय विस्तार जिसमें घटनाओं का क्रम परस्पर सम्बन्धित नहीं होता और न ही घटनाएँ किसी नियत क्रम में घटित होती हैं [अक्रम] और यही विस्तार इन रूपाकारों की पृष्ठभूमि है। जब गुरुमाई जी ने मुझे 'अक्रम-क्रम' के विषय में समझाया तब मुझे वैसा ही "अहा!" भरा हर्षपूरित क्षण महसूस हुआ जैसा मैंने entropy [ऍन्ट्रॉपी] शब्द के बारे में जानने पर महसूस किया था, क्योंकि यह वही शब्द था 'अक्रम-क्रम' जिसने मुझे ऐसी प्रक्रिया को समझने में मदद की जिसे मैं, और निस्सन्देह अन्य अनेक लोग, समझने के लिए दीर्घकाल से प्रयासरत रहे हैं : एक ऐसी सृष्टि में सुव्यवस्था या क्रम खोजने [या पुनः स्थापित करने] की आवश्यकता जो कभी-कभी मूलतः अप्रत्याशित यानी अक्रमिक प्रतीत होती है। तथापि, उस अविस्मरणीय रसायनशास्त्र की क्लास के कुछ दस-पन्द्रह वर्षों बाद, अब 'अक्रम-क्रम' के सिद्धान्त से परिचित होने पर जो बात अलग थी वह यह कि जो बदलाव मैं लाना चाहती थी उसे मैं कैसे करूँ इस बारे में मुझे स्पष्टता मिली। अब मेरे अन्दर इस चिन्ता की धारा नहीं रह गई थी जो मुझे पहले महसूस होती थी—यह चिन्ता कि भला करने का जो भी छोटा-बड़ा प्रयास मैं करूँगी वह इस अज्ञात भ्रम के रहते अन्ततः निष्फल ही सिद्ध होगा, वही अज्ञात भ्रम जिसने हम सबको अपने में समेट लिया है। अब मुझे सच्चा उपाय मिल गया था; मैं देख पा रही थी कि आगे का मेरा मार्ग क्या होगा।

मैं अकसर सोचती हूँ कि मेरा कितना बड़ा सद्भाग्य है कि सिद्धयोग पथ से मेरा परिचय हुआ है, कि श्रीगुरुमाई के मार्गदर्शन को प्राप्त करने की लाभार्थी बनने की मेरी किस्मत है। गुरुमाई जी द्वारा प्रदान किए गए मार्गदर्शन में मुझे बार-बार अपने उन प्रश्नों के उत्तर मिले हैं जो मुझे अपने युवाकाल में थे, और जिन पर मैं तब से मनन-चिन्तन करती रही हूँ। जब भी मैंने ध्यानपूर्वक गुरुमाई जी के शब्दों पर केन्द्रण किया है, तब निस्सन्देह, हर बार मैंने अपने आपको भली प्रकार सुसज्जित पाया है ताकि मैं संसार-सागर की लहरों में से अपना रास्ता खोज सकूँ और मैंने उन अवसरों में अपने

आपको कृतज्ञताभाव से पूरित पाया है जब लहरें शान्त हों। मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि कैसे गुरुमाई जी के मार्गदर्शन को प्राप्त करना, उस पर चिन्तन-मनन करना और उसका परिपालन करना सिद्धयोग पथ पर मेरी साधना का अभिन्न अंग है, और एक अच्छे व उद्देश्यपूर्ण जीवन का मेरुदण्ड है।

***

अगस्त व सितम्बर २०२१ में हम सभी सिद्धयोगियों व नए साधकों को, छः अभ्यासों के रूप में गुरुमाई जी का मार्गदर्शन प्राप्त करने का अनुपम आशीर्वाद मिला, जिसका शीर्षक है, "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन"। इन अभ्यासों के लिए गुरुमाई जी का संकल्प है कि इन अभ्यासों से हमें अपने शरीर में स्थायित्व व दृढ़ता पाने व अनुभव करने के लिए सम्बल मिले व हम प्रोत्साहित हों; कि हम उस निःशब्दता को खोज लें जो हमारे अपने ही मन में हमारे लिए सदैव उपलब्ध है; और हम अपनी आत्मा में अधिक विश्वास व उस पर अधिक निर्भरता का विकास करें ताकि किसी भी समय, चाहे हमारे जीवन में या इस संसार में जो भी हो रहा हो, हम फिर भी आश्वस्त रहे कि, जैसा कि गुरुमाई जी कहती हैं, हम "पूरी तरह सज्ज" हैं।

जब इन अभ्यासों में से पहला अभ्यास सिद्धयोग पथ की वेबसाइट पर प्रकाशित हुआ, तब से मैंने पाया है कि इनमें ऐसी कोई बात है जो मर्मभेदी है और गहराई में पैठ जाती है। पहले-पहले मैं स्पष्ट रूप से नहीं बता पा रही थी कि वह क्या है। क्या यह गुरुमाई जी के निर्देशों का स्वरूप है, क्या यह उनमें निहित अनोखापन है कि ये निर्देश सौम्यताभरे भी है और साथ ही सुस्पष्ट भी? क्या यह उनकी विलक्षणता है कि हम उन्हें सरलता से कर पा रहे हैं? क्या यह वह तरीक़ा है जिससे गुरुमाई जी हमें आमन्त्रित कर रही हैं कि हम अपने मन व शरीर की विविध शक्तियों को यानी हमारी देखने की व सुनने की इन्द्रियों को, स्पर्श को महसूस करने व सूँघने की इन्द्रियों को उपयोग में लाएँ ताकि हम ऐसी सच्चाई तक पहुँच सकें जो हमारे इन्द्रियबोध का आधार भी है और साथ ही उससे परे भी है?

अन्ततः मैं यह समझ पाई कि ऊपर कही गई सभी सम्भावनाओं, बल्कि इनसे भी कई अधिक बातों के कारण, ये अभ्यास मर्मभेदी हैं; और ये इतने मर्मभेदी हैं कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इन अभ्यासों के विभिन्न तत्त्वों में से एक-एक तत्त्व के प्रभाव को कुल मिलाकर देखें तो वह उससे कहीं बढ़कर होगा जो हमने कभी सोचा हो। इतना ही नहीं ये "तत्त्व" अपने आप में उन सूक्ष्मताओं और गूढ़ार्थों से युक्त हैं जिनके कारण "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन" इतना विशिष्ट व ख़ास है। "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन" को पढ़ने पर, गुरुमाई जी के निर्देशों को सुनने व उनका पालन करने पर

मुझे कैसा लगता है इसका वर्णन करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है कि मैं उसके सदृश एक उदाहरण दूँ—एक दर्शन का प्रसंग व अनुभव जो मुझे कुछ वर्षों पूर्व हुआ था।

गर्मियों का समय था और एक सत्संग के बाद, अन्य अनेक लोगों की ही तरह मैं भी गुरुमाई जी के दर्शन के लिए पंक्ति में खड़ी थी। मैं आगे आई और मैंने उन्हें प्रणाम किया। जब मैंने अपना सिर उठाया तो देखा कि गुरुमाई जी मेरी ओर देखकर मुस्करा रही हैं। बल्कि . . . मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि, उनकी मुस्कान *सूर्यप्रकाश* की बनी थी। वह ऐसा था मानो किसी ने आकाश तक पहुँचकर सूर्य की सर्वोत्कृष्ट और सबसे खूबसूरत रश्मियाँ चुन-चुनकर इकट्ठा की हों और अब वे रश्मियाँ यहीं थीं, ठीक मेरे सामने, मुझ पर बरस रही थीं।

मेरे अन्दर भी सब कुछ प्रकाशमय हो उठा, भारहीन और स्वर्णिम। ऐसा लग रहा था कि मैं सूर्य के प्रभामण्डल के बीचोबीच हूँ। उसी मण्डल में रहते हुए जब मैंने गुरुमाई जी की ओर देखा तो विस्मय से भरे मेरे मन के अन्तरतम कोने को यह आभास होने ही लगा था कि मेरे चेहरे में वह क्षमता है कि इस पर भी कोई चेष्टा हो सकती है, और तब मेरे चेहरे पर एक मुस्कान छा गई जो अनूठी-सी थी, मेरी अपनी थी। कितना अवर्णनीय था वह सब कुछ! जहाँ तक मैं जानती थी, मैंने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया था, मैंने कोई बहुत शानदार बात भी नहीं कही थी, और ऐसा प्रेम व स्वीकृति पाने के प्रत्युत्तर में जैसा व्यवहार मुझे करना चाहिए या करने की मैं आदी हूँ, वह करके मैं अपने आपको सुपात्र प्रमाणित करूँ ऐसा भी कुछ मैंने नहीं किया था। फिर भी, हर क्षण मुझे वह सूर्यप्रकाश मिलता ही जा रहा था। जो कुछ भी घटित हुआ वह शायद कुछ ही पलों के लिए था, और गुरुमाई जी व मेरे बीच शब्दों का आदान-प्रदान भी नहीं हुआ। फिर भी, उन पलों में मुझे जो अनुभव हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ था—मैं जो हूँ-जैसी हूँ उसी रूप में गुरुमाई जी ने मुझे देखा और मुझे सराहा; जो सम्मान, जो क़द्र मुझे उन पलों में महसूस हुई, वह मैंने इससे पहले कभी महसूस नहीं की थी।

लोगों के अन्तर्जात मूल्य की, उनके महत्त्व की यह अभिस्वीकृति व सराहना, मानव-जीवन के प्रति मौलिक आदर ही, मेरे अनुसार, गुरुमाई जी की सिखावनियों का केन्द्रबिन्दु है। यही वह विलक्षण बात है जो बताती है कि गुरुमाई जी *किस प्रकार* सिखाती हैं। और यही वह विशेष भाव है जो मुझे "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन" में दिखता है और स्पष्टतः व गहराई से अनुभव होता है।

***

हाल ही में गुरुमाई जी श्री मुक्तानन्द आश्रम में कुछ लोगों से बात कर रही थीं। किसी ने कहा कि उन्होंने समाचार पढ़ना बन्द कर दिया है क्योंकि उनके अनुसार वह केवल मृत्यु के विषय में होता है,

मृत्यु, मृत्यु, मृत्यु, मरना, मरना, मरना, मारना, मारना, मारना—मानवता के विनाश को दर्शाने वाला अनवरत कोलाहल। प्रत्युत्तर में गुरुमाई जी ने कहा, "मानव-जीवन के मूल्य को या अपने उद्देश्य को कभी भी अपनी आँखों से ओझल मत होने देना।"

गुरुमाई जी ने यह भी कहा कि यह शरीर भगवान का मन्दिर है; और यह कि जहाँ तक हम जानते हैं, यह मानव-शरीर ही है जिसमें हम मोक्षप्राप्ति कर सकते हैं, जिसमें हम दृढ़ प्रयत्न कर सकते हैं ताकि हम भगवान के प्रकाश की अनुभूति कर सकें व उसमें अवस्थित हो सकें। भारतीय शास्त्रों के अपने अध्ययन में मैंने इस सिखावनी को विस्तृत रूप में पाया है। उदाहरण के लिए, कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है :

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते।
तस्माद्देहधनं प्राप्य पुण्यकर्माणि साधयेत्॥

मानव के अतिरिक्त अन्य कोई भी देहधारी आत्मा
पुरुषार्थ अर्थात् जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास नहीं कर सकता।
अतः, जिसे मानव-देहरूपी धन प्राप्त है,
उसे पुण्यकर्म करने हेतु स्वयं को समर्पित करना चाहिए।[१]

सदियों से, "पुण्यकर्म" का अर्थ विभिन्न रूपों में समझा गया है। लोग जिस भी धर्म या आध्यात्मिक परम्परा का अनुसरण करते हों, उसके अनुसार, वे भगवत्-साक्षात्कार के ऐसे मार्गों का समर्थन करेंगे जिनकी तीव्रता और उग्रता भिन्न-भिन्न स्तर की होती है। अनेक लोग ऐसा मार्ग अपनाते हैं जो कठोर होता है और उन्हें आघात पहुँचाता है [लाक्षणिक रूप से *और* प्रत्यक्ष रूप से भी]। वे भूखे रहेंगे, अपना रक्त बहाएँगे और इस विश्वास से अपने शरीर को तरह-तरह से यन्त्रणा देंगे कि ऐसा करने से वे उस लक्ष्यप्राप्ति के लिए अपने आपको सुयोग्य बना रहे हैं जिसकी उन्हें खोज है। भारत के अनेक प्राचीन शास्त्रों में भी ऐसी घोर तपस्या अपनाई गई है; एक चिर-परिचित छवि जो पाई जाती है, वह है एक व्यक्ति की जो हज़ारों वर्षों तक पर्वत-शिखर पर, अपने एक पैर के बल खड़ा रहकर तपस्या कर रहा होता है।

तथापि, सिद्धयोग पथ सन्तुलन का मार्ग है, मध्य-मार्ग है और "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन" के अभ्यास इसमें अपवाद नहीं हैं। हृदयमन्दिर की अनुभूति करने के लिए हमें किसी पर्वत-शिखर पर निकल जाने की आवश्यकता नहीं है और न ही हमें वेदों को कण्ठस्थ करना है। हमें जो भी चाहिए, वह सब कुछ हमारे पास पहले से ही है। मुझे गुरुमाई जी की एक सिखावनी याद आ रही है जो

उन्होंने १ जनवरी, २०१९ को हुए मधुर सरप्राइज़ के सीधे वीडिओ प्रसारण में दी थी। सत्संग हॉल—सिद्धयोग वैश्विक हॉल—में आते समय गुरुमाई जी अपने साथ मूँगिया-रंग का एक खिला हुआ गुलाब लेकर आई थीं। गुरुमाई जी ने कहा था कि वे सार्वभौमिक सिद्धयोग संघम् के लिए इस गुलाब पर एक कविता लिखना चाह रही थीं, पर कोई शब्द ही नहीं उभरे। और फिर उस गुलाब ने गुरुमाई जी से बात की, उसने कहा, "मैं एक गुलाब हूँ, और जैसा हूँ, अच्छा हूँ।"

तो उस गुलाब की ही तरह, हम भी जैसे हैं, अच्छे हैं। ठीक यहीं, इसी शरीर में जो कि हमें वरदानस्वरूप प्राप्त है, हम भगवान को जान सकते हैं, फिर चाहे यह शरीर जैसा भी दिखता हो या इसमें कुछ भी करने की क्षमता हो। हम अपनी आत्मा को जान सकते हैं।

और हाँ, यह विवेकशीलता की बात होगी यदि हम अपने ध्येय की ओर बढ़ने के लिए आवश्यक प्रयत्न के मूल्य को कम न समझें। किन्तु हम श्रीगुरुमाई से सीखते हैं कि खुशी यात्रा में भी है, और साथ ही गन्तव्य में भी है, और हम यह भी सीखते हैं कि यदि हमारे पास वह दृष्टि हो तो अपने प्रयत्न के हर एक क़दम पर हमें कृपा की अनुभूति होती है। पंखुड़ी-दर-पंखुड़ी, गुलाब के फूल के हौले-हौले खिलने में एक सुन्दरता निहित होती है—आख़िरी पंखुड़ी का उन्मीलन होने तक वही खूबसूरती बरक़रार रहती है, उसमें संकोच का भाव भी महसूस होता है और साथ ही निर्भयता भी।

सिद्धयोग साधना में प्रयत्न अत्यधिक सहज-सरल हो सकता है और गहन भी, जैसे यह सीखना कि कैसे हम ॐ गाते समय अपनी सत्ता में उसकी गूँज को और स्पन्दन को सुनें। और यह इतना सूक्ष्म हो सकता है जैसे इस बात पर बारीकी से ध्यान देना कि चलते समय हमारे पैर किस प्रकार ज़मीन को स्पर्श करते हैं—हम किस प्रकार क़दम रखते हैं, क्योंकि हम यह जानते हैं कि धरती स्वयं जीवन्त है, यह चेतन है; कितने ही जीवों के लिए यह एक निवास-स्थान है, और इसमें वही मूल चैतन्य गुँथा हुआ है जिससे हम खुद बने हैं।

श्रीभगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "यह शरीर क्षेत्र है।" यह शरीर वह धाम है जिसमें हमारे जीवन के सभी कर्म किए जाते हैं; हम जो कुछ भी समझते हैं, देखते व अनुभव करते हैं, वह सब कुछ इसी शरीर से और मन से छनकर आता है। आयुर्वेद के अनुसार, हमारी त्वचा की सात परतें हैं, अन्दर जो है और बाहर जो है उसके बीच सुरक्षा के सात घेरे। इसके बावजूद, हम निरन्तर ऊर्जा को अपने अन्दर सोख रहे होते हैं और उसे बाहर प्रसरित कर रहे होते हैं। हम सतत असंख्य प्रकार के उद्दीपन या उत्तेजन के सम्पर्क में आते रहते हैं। इसलिए, शरीर व मन के प्रति अपनी जागरूकता का विकास करने के लिए, और वे हमारे आस-पास के पर्यावरण के साथ जिस तरह परस्पर क्रियाशील होते हैं, उसे आकार देने के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यही वह प्रयत्न है जो हमें मदद करता है कि हम रोज़मर्रा-से प्रतीत होने वाले अनुभव को एक ऐसे अनुभव में रूपान्तरित कर सकें जो इन्द्रियातीत हो—रोज़मर्रा के अनुभव, जैसे चलना या झील के किनारे बैठकर शान्तभाव से चिन्तन करना। यही वह प्रयत्न है जो हमें स्वयं अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने व उसे निभाने में सक्षम बनाता है, अपने जीवन को अधिक स्फूर्ति व सक्रियता से जीने में मदद करता है और जिस वास्तविकता में हम जीते हैं उसका निर्माण करने में अधिक सशक्त बनाता है।

उस दिन जब हम कुछ लोग सत्संग कर रहे थे तो गुरुमाई जी ने समझाया : "बात इस बात की है कि तुम पहले से ही जिससे परिचित हो उसे फिर से संशोधित करना है—अपनी अच्छाई तक पहुँचना है, अपनी महानता को स्वीकार करना है, अपनी भगवत्प्रदत्त क्षमताओं को समझना है और अपनी शक्ति का उपयोग करना है। यह एक अभिपुष्टि है जिसे तुम्हें हृदयंगम करना है और विनम्रता से इसका अभ्यास करना है। विनम्रता—क्योंकि तुम जितने अच्छे हो सकते हो, तुम जितने महान हो सकते हो, तुम जितने सक्षम हो सकते हो, तुम जितने सशक्त हो सकते हो, उसका कोई अन्त ही नहीं है।"

***

कभी-कभी ऐसा होता है, जब हम एक नएपन के साथ अपने शरीर के प्रति जागरूक होते हैं, तो एक मज़ेदार बात होती है : हम अति कर देते हैं। मैं पाती हूँ कि जब मैं अपने भौतिक शरीर के किसी पहलू के प्रति कुछ ज़्यादा जागरूक होती हूँ तो अचानक मेरा ध्यान *हर चीज़* पर जाने लगता है। और अपने शरीर का मेरा अवलोकन शायद ही कभी निष्पक्ष होता है यानी लगभग हमेशा ही मेरी दृष्टि आलोचनात्मक होती है। अकसर होता यह है कि मैं अपने भौतिक शरीर में दोष देखती हूँ, इसे आँकती हूँ या इसके बारे में कोई मत बना लेती हूँ : जैसे, काश मैं कुछ अलग दिखती, काश मेरे शरीर के हावभाव कुछ और तरह से होते, काश मैं अपने शरीर में कोई और भाव महसूस करती। हाँ, खुद की आलोचना करना मन के लिए बड़ा ही आसान तो होता है, परन्तु इस बात को याद रखना हमारे लिए मददगार रहेगा कि हम "श्रीगुरुमाई द्वारा मार्गदर्शन" में दिए गए अभ्यास इसलिए नहीं कर रहे हैं कि हम अपने रूप-रंग को लेकर अपने अभिमान को बढ़ावा दें या इसलिए भी नहीं कर रहे हैं कि हम एक और मापदण्ड बना लें जिसके आधार पर हम खुद की शारीरिक क्षमताओं या अपने रूप-रंग का मूल्यांकन करें। हम ये अभ्यास कर रहे हैं ताकि हम अपने अन्तरंग के और भी गहरे व सच्चे अस्तित्व तक पुनः पहुँच सकें। इस सन्दर्भ में शरीर एक माध्यम है; हमारे अन्दर जो घटित हो

रहा है, उसके बारे में यह हमें एक ईमानदार और साथ ही करुणापूर्ण अन्तर-समझ प्रदान करता है। यह हमारी मदद करता है ताकि हम उसे उजागर कर सकें जो हम वास्तव में हैं।

उदाहरण के लिए, एक अभ्यास में गुरुमाई जी हमें हँसी का अनुभव करने में मार्गदर्शित करती हैं—कि चाहें हम इसके प्रति जागरूक हों या न हों, हमारे अन्दर की सुप्त खुशी जो प्रतीक्षा में है, उसे हम व्यक्त होने की पूर्ण अनुमति दे दें, हम इसे अपने अन्दर से प्रकट होने दें। मैंने अनेक लोगों से इस बारे में चर्चा की, यह अभ्यास करने के बाद उन्होंने बताया कि पहले-पहल उन्हें हँसने के बारे में कुछ झिझक-सी हुई, और यह संकोच केवल हँसने के बारे में ही नहीं था बल्कि—जैसा कि निर्देशों में बताया गया है—*पूरी तरह,* खुलकर हँसने को लेकर भी था। यह सुनना मेरे लिए कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी, हममें से अधिकांश लोग यह सीखते हुए बड़े हुए हैं कि हम अपनी हँसी को रोकें। हमने सीखा है कि हम मन ही मन हँसने से अपने आपको रोकें, हँसते समय अपने मुँह पर हाथ रखें, हमारे हँसने के तरीक़ों को ठीक करें, या अपनी हँसी के विषय में कोई विशिष्ट बात, कोई अनोखापन हो तो उसे सुधारें। पर जब हम इस बात के मूल में देखते हैं तो पूर्ण हास्य, प्राण से पूरित हँसी, खुलकर, खिलखिलाकर हँसना वही होगा जिसकी तरफ़ हमारा स्वाभाविक रुझान हो और जो सहज ही उभरे। यह हमारी एक नैसर्गिक स्थिति है।

छोटे बच्चे इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। हो सकता है किसी समय वे अत्यधिक चिड़चिड़े हों, और बड़े गुस्से से अपनी नाराज़गी व्यक्त कर रहे हों कि कोई चीज़ उनके अनुसार बिलकुल भी ठीक नहीं है। लेकिन जैसे ही उनकी माँ या उनके पिता कुछ दिलचस्प, मनोरंजक या विनोदी बात कहते या करते हैं, तो क्या होता है? उनका रोना-धोना-चिल्लाना अचानक बन्द हो जाता है। वे एकटक अपनी माँ या पिता को देखते रहते हैं, और तभी माता या पिता मौक़े को तुरन्त पकड़कर, जो भी मज़ेदार और विनोदी आवाज़ें या हावभाव कर रहे होते हैं उसे और भी तेज़ी-से करने लगते हैं। और फिर, धीरे-धीरे उन मासूम-सी सिसकियों और आँसुओं के स्थान पर, एक छोटी-सी, प्यारी-सी मुस्कान खेलने लगती है। एक हलकी-सी खिलखिलाहट। एक किलकारी। हर्ष के रहते बच्चे की नाखुशी टिक ही नहीं सकती, क्योंकि हर्ष ऐसी स्थिति है जिसमें वह स्वभावतः रहता है।

श्रीगुरुमाई जिन गतिविधियों में हमें मार्गदर्शित कर रही हैं—वे मुद्राएँ और शारीरिक तकनीकें जो उन्होंने अपने मार्गदर्शन में सविस्तार समझाई हैं—ठीक ऐसी ही हैं : वे हमारा सहज-स्वभाव हैं। किसी समय वे हमारे शरीर की अन्तर्जात प्रवृत्तियाँ थीं, बाद में हमारे अन्दर नए आचार-व्यवहार विकसित हुए जिनके कारण ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ दब गईं।

आरम्भ में मैंने 'अक्रम-क्रम' के विषय में बात की और उस संघर्ष के बारे में भी बात की जिसमें हम ऐसे संसार में सन्तुलन व सामंजस्य लाने की कोशिश करते हैं जो इतनी तेज़ी-से विपरीत दिशा की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है कि उसे रोकना असम्भव है। गुरुमाई जी की सिखावनियों से मैंने जो सीखा है वह यह कि यह सन्तुलन पुनः स्थापित करने की प्रक्रिया हमसे आरम्भ होती है। जब हम अपनी आत्मा के सम्पर्क में होते हैं तो हम अधिक सहजता से उस आत्मा को दूसरों में देख पाते हैं। जब हम अपने शरीर में स्थिर-सन्तुलित व सहज महसूस करते हैं, जब हम अधिक स्पष्टता से विचार करते हैं, तो हम अपने आस-पास के संसार में स्थायित्व व स्थिरता लाने में अधिक सक्षम व सुसज्जित होते हैं। यह वैसा ही है जब हम आरती के दौरान उपनिषद् मन्त्रों के समापन पर 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' मन्त्र गाते हैं। तीन बार गाए हुए 'शान्तिः' शब्द का हर एक उच्चारण एक प्रार्थना है; यह प्रार्थना कि हमें संसार के त्रितापों से मुक्ति मिले। ये तीन ताप हैं—आध्यात्मिक, यह ताप या कष्ट स्वयं मनुष्य के कारण [उसके शरीर, मन या भावनाओं के कारण] होता है; आधिभौतिक, यह कष्ट प्रकृति की शक्तियों और हमारे आस-पास के प्राणियों के कारण होता है; आधिदैविक, यह ताप अदृश्य शक्तियों, ग्रह-नक्षत्रों और पारलौकिक शक्तियों के कारण होता है। हम पहले आन्तरिक शान्ति के लिए याचना करते हैं, और फिर बड़े ही स्वाभाविक रूप से बाह्य शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ स्फुरित होने लगती हैं।

***

अपनी युवावस्था में मेरे अन्दर अनेक प्रश्न उभरते कि मैं किस प्रकार समझूँ कि जीवन क्या है, और किस प्रकार मुझे पूरा विश्वास हो कि जो जीवन मैं जी रही हूँ वह उद्देश्यपूर्ण व अर्थपूर्ण है। बड़ी होते-होते, गुरुमाई जी की सिखावनियों के अध्ययन ने मुझे मार्ग दिखाया है जिससे मैंने अपने इन प्रश्नों के अद्भुत उत्तर पाए हैं। फिर भी, मैंने पाया है कि हर एक उत्तर के साथ उभरता है एक नया प्रश्न, अस्तित्व के बारे में दुविधा का एक अन्य पहलू जिसके विषय में मुझे जानना होता है, एक अन्य दृष्टिकोण जिस पर मैंने पहले कभी विचार न किया हो। एक उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने का अर्थ क्या है, इसे समझने व इसकी सराहना करने का यह एक निरन्तर प्रयत्न रहा है, वास्तव में यह दिन-प्रति-दिन किया जाने वाला प्रयत्न रहा है जिससे मुझे अधिकाधिक विनम्रता का भाव महसूस होता रहता है। सीखने के लिए सदैव कुछ और होता है, कुछ नया होता ही है, और कभी-कभी मैं आश्चर्यचकित रह जाती हूँ कि कितना व्यापक है यह ज्ञान जिसे मैंने अब तक अर्जित नहीं किया है। ऐसे क्षणों में मैं श्रीगुरुगीता के इस श्लोक का स्मरण कर आश्वस्त होती हूँ, "जो कहते हैं कि उन्होंने [ब्रह्म को] नहीं जाना है, वे ज्ञानी हैं और जो कहते हैं कि जान लिया, वे नहीं जानते हैं।"[२]

एक बात जो मैं निश्चित तौर पर अवश्य *कह सकती हूँ,* वह यह कि गत वर्षों में, इन प्रश्नों के उत्तर पाने की ललक व अपरिहार्यता मेरे अन्दर अधिकाधिक प्रबल ही होती गई है। गुरुमाई जी प्रायः इस सिखावनी का उल्लेख करती हैं जो भारत के सन्तों के साथ-साथ अनेक परम्पराओं के सन्तों द्वारा प्रदान की गई है : *यह देह मिट्टी है और एक दिन मिट्टी, मिट्टी में मिल जाती है।* हम, हममें से कोई भी नहीं जानता कि इस धरा पर हमारे पास कितना समय होगा। सच कहें तो यह अच्छा ही है, क्योंकि यह एक ऐसी सच्चाई है जो तुरन्त ही हमारा ध्यान इस बात पर लाती है कि इस धरा पर हमें मिला हुआ समय कितना अनमोल है। मैं पाती हूँ कि मैं इस पर अधिकाधिक मनन-चिन्तन कर रही हूँ कि जो समय मेरे पास अभी है उसका मैं सर्वोत्कृष्ट रीति से उपयोग कैसे करूँ, यह बोध में रखते हुए कि हर क्षण का महत्त्व सर्वोपरि है, मैं किस प्रकार कार्य करूँ, मैं किस प्रकार अपने जीवन को सार्थक बनाऊँ।

साधना—और बदलाव लाना, रूपान्तरण लाना—का आरम्भ होता है, हमारे साथ; परन्तु यह वहीं पर आकर नहीं रुकती। गुरुमाई जी ने हमेशा सिखाया है कि मोक्ष के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं वह केवल हमारे अपने लिए नहीं होता; और यह कि यदि हमारा ऐसा सद्भाग्य है कि हम आत्मज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर आए हैं तो हम जो सीखते हैं उसका उपयोग हम दूसरों की सहायता करने के लिए करें। जिस अनौपचारिक सत्संग की मैंने आरम्भ में बात की थी, उसमें गुरुमाई जी ने कुछ लोगों से कहा कि किसी ने उन्हें एक उद्धरण बताया था। एक पत्रकार ने इसे उद्धृत किया था जो पर्यावरण के क्षेत्र में कार्यरत हैं। अमरीका के मूलनिवासियों की एक जनजाति, चेरोकी परम्परा के एक वृद्ध के साथ वार्तालाप से उन पत्रकार को इस उद्धरण की प्रेरणा मिली। उन दोनों के वार्तालाप में यह विषय शामिल था : अमरीका के पूर्वीय तटप्रदेशों से पश्चिमी क्षेत्रों में बसने आए लोगों की मानसिकता और पश्चिमी अमरीका के मूलनिवासियों की मानसिकता के बीच का फ़र्क़। पश्चिम में बसने आए लोगों की मानसिकता होती है, "यह मेरा अधिकार है।" और पश्चिमी अमरीका के मूलनिवासियों की मानसिकता होती है, "यह मेरा दायित्व है।" इस वार्तालाप से प्रेरित होकर इन पत्रकार ने कहा : "ऐसा सोचने के बजाय कि मेरे पास जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं ऐसा विचार करने का चुनाव करता हूँ कि मेरा जन्म इस दायित्व के साथ हुआ है कि मैं भूत, वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों की, और इस पृथ्वीग्रह की सेवा करूँ।"

यदि हम इस उद्धरण के भाव को अपनी साधना में लागू करें तो हम यह समझ जाएँगे कि मानव-देह में होने से भले ही हमें यह सुअवसर मिला है कि हम आत्मज्ञान प्राप्त करें, फिर भी यह सुअवसर ऐसा नहीं है जिसका मूल्य कम समझा जाए या जिसके बारे में हमें ऐसा लगे कि यह हमारा अधिकार है। हमें दिए गए इस सुअवसर की महत्ता, इसका माहात्म्य पहचानने का अर्थ है, इस सुअवसर के साथ जो उत्तरदायित्व जुड़े हैं, उन्हें स्वीकार करना व निभाना। यहाँ पर मुझे याद आ रहा है कि जब

भी मैं गुरुमाई जी के साथ होती हूँ तो एक बात मैं हर बार नवीनता से सीखती हूँ : *अगर आपके पास है, तो आप देते हैं।*

सन्तजन के प्रज्ञान को समझाते हुए गुरुमाई जी ने सिखाया है कि चूँकि यह देह अन्ततः मिट्टी में मिल जाती है, अतः यह हमारा कर्तव्य है कि जिस स्थान में हमारी देह ने वास किया है, उस स्थान को हम उससे भी बेहतर रूप में छोड़ जाएँ जैसे वह तब था जब हम पहली बार वहाँ आए थे। दूसरे शब्दों में, जब हम इस धरा पर, इस शरीर में हैं तो हम इस शरीर का सदुपयोग करें, इसे उत्थानकारी कार्य में लगाएँ। यह ऐसा सिद्धान्त है जो विश्व की अनेक संस्कृतियों की परम्पराओं में पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर हम पुनः अमरीका के मूलनिवासियों के तत्त्वज्ञान को देख सकते हैं, विशेषकर उनके seven-generation stewardship ['सॅवन जनरेशन स्टीवर्डशिप'] के सिद्धान्त को देख सकते हैं, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि वर्तमान पीढ़ी के कर्म अगली सात पीढ़ियों के जीवन को प्रभावित करते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त को हृदय से अपनाएँ तो यह कल्याणकारी होगा। हम अभी जो चुनाव करते हैं उनका अत्यधिक महत्त्व है; किसी न किसी रूप में उनका प्रभाव उन सभी पर होगा जो हमारे बाद आएँगे।

श्रीगुरुमाई ने कहा है :

जब आत्मा का इस भौतिक शरीर को छोड़ने का दिन आता है,
तो वह आत्मा प्रबुद्ध हो।
वह आत्मा इस पृथ्वी ग्रह की बेहतरी के लिए प्रयोग में लाई गई हो।
वह जगत में लय होने वाली *स्वर्णिम* मिट्टी हो।
भावी निवासियों के लिए इस जगत को एक जगमगाते स्थान के रूप में छोड़कर जाओ।

©२०२१ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] कुलार्णवतन्त्र १.१८।

[२] श्रीगुरुगीता श्लोक ४०; स्वाध्याय सुधा, [चित्शक्ति पब्लिकेशन्स]।